

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में पंचायती राज (स्थानीय स्वशासन)



डॉ. सुनीता मीना

सह आचार्य, इतिहास

शहीद कैम्पन रिपुदमन सिंह राजकीय महाविद्यालय, सवाई माधोपुर (राजस्थान)

शोध सारांश

प्राचीन काल में राजनीतिक सम्पर्कों के माध्यम से ग्राम के हितों का सर्वोच्च स्तर पर प्रतिनिधित्व किया जाता था, लेकिन वे सम्पर्क आगे चलकर कस्बों तथा शहरों के बढ़ते हुए प्रभुत्व, साम्राज्यीय विचारों के विकास तथा अधिकारी तंत्र के प्रयोग के फलस्वरूप टूटे हुए प्रतीत होते हैं। फिर भी प्राचीन काल में जिस प्रकार की ग्रामीण स्वशासन की व्यवस्था विकसित हुई थी वह गुप्तकाल तक यथावत रही। यद्यपि इसमें अधिकांश पदों के नामों के संबंध में कतिपय मामूली परिवर्तन किये गये थे। भारत में पंचायती राज व्यवस्था इतिहास के विभिन्न काल खण्डों से गुजरती हुई अपने में विभिन्न ऐतिहासिक परम्पराओं को संजोए हुए अनवरत एक नदी के समान प्रवाह मान है। ये हम पर निर्भर करता है कि हम ऐतिहासिक स्थानीय स्वशासन की परम्परा को अपनी सुख समृद्धी व विकास का माध्यम बनाये अथवा अपने निजी स्वार्थों की पूर्ति का साधन बना लें प्राचीन काल से ही पंचायतें हमारी सामाजिक, राजनैतिक व्यवस्था का अंग रहीं हैं। पंचायती राज को संवैधानिक हैसियत प्रदान कर सत्ता में आम आदमी की भागीदारी का रास्ता खोला गया। सत्ता के विकेन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया पंचायती राज के दर्शन के निरन्तर विकास का परिणाम है।

संकेताक्षर : पंचायतन, ग्रामिणी, अनीकास्था, जामधा कारिका, स्थानीक, स्वायत्त शासन

प्रस्तावना

भारत में पंचायतों की परम्परा बहुत पुरानी है। 'पंचायत' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा के शब्द पंचायतन से हुई है, जिसका अर्थ है पाँच व्यक्तियों का समूह अर्थात् गाँव के लोगों द्वारा चुने हुए पाँच व्यक्तियों की सभा से लिया गया है। यह कोई नई राजनीतिक-दार्शनिक संकल्पना नहीं है, अपितु प्राचीन भारत में पंचायतें अपने समग्र रूप में एक ऐसी संस्था होती थी, जिनका मार्ग दर्शन ग्रामीण अपने दैनिक जीवन में प्राप्त करते थे। पंचायतों के माध्यम से ही ग्रामीण नेता अपनी समस्याएँ सुलझाते थे। शिलालेखों एवं प्राचीन साहित्य में उपलब्ध विरल संदर्भों के सघन अध्ययन से इतिहासकारों को पंचायती राज के सम्बन्ध में अनेक विवरण मिले हैं जिसके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भारत में निश्चित रूप से स्थानीय स्वशासी प्रबन्ध परिषदें विद्यमान थी।¹

भारत में प्राचीन काल से ही ग्राम, प्रशासन की धुरी रहा है। वैदिक युग में छोटे-छोटे कबीले होते थे। जिनके कारण ग्रामों का महत्व और भी

बढ़ गया था। ग्राम सामाजिक जीवन के वास्तविक केन्द्र बिन्दु और देश की अर्थव्यवस्था के महत्वपूर्ण एकक होते थे।² प्राचीन भारत की ग्राम परिषदों की शक्तियाँ संभवतः इतनी व्यापक थी, जितनी किसी पूर्वी अथवा पश्चिमी प्राचीन अथवा आधुनिक राजतंत्र के उन जैसे निकायों के पास नहीं थी। वे केन्द्रीय सरकार की ओर से राजस्व वसूल करती थीं। दमनात्मक करों की वसूली करने से इंकार कर देती थीं, सार्वजनिक उपयोगिता के कार्यों का आयोजन करती थीं। ग्राम परिषदों के सदस्य निर्वाचित नहीं किये जाते थे। बल्कि उन्हें ये पद जनता की सर्वसम्मति से प्राप्त होता था। ग्रामिणी ग्राम प्रशासन का महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। मनुस्मृति में इसे ग्रामिक कहा गया है। यह एक प्रतिष्ठित अधिकारी होता था। जो राजा के राज्याभिषेक समारोह में निर्णायक भूमिका का निर्वहन करता था। वैदिक साहित्य में समिति तथा सभा के भी प्रसंग मिलते हैं। इनमें प्रमुख रूप से कृषि से सम्बन्धित समस्याओं पर विचार-विमर्श हुआ करता था। ये सभा और समिति जनहित के सभी मुद्दों पर कार्य करती थी। अथर्ववेद में इस आशय का एक श्लोक भी मिलता है।

ये ग्रामा यदरण्यं या सभा अथिभूम्याम्।

ये संग्रामाः समिति यस्तेषु चारु वैदमते

अर्थात् पृथ्वी के ग्रामों, वनों व सभाओं में हम सुन्दर (चारु) वेद युक्त वाणी का प्रयोग करें।

रामायण, महाभारत, हितोपदेश, ऋग्वेद, मनुस्मृति तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्राचीन भारत के स्थानीय स्वशासन अर्थात् पंचायतों का उल्लेख मिलता है। वाल्मिकि रामायण में एक स्थान पर कहा गया है।

यदिदमेडनुरूपार्थ मया साधुं सुमिन्त्रतम।

भवन्तोमेडनु मन्यन्ता कं वा करवाभ्यहेम।।

अर्थात् मेरे द्वारा रखे गये उच्च विचार यदि वास्तव में उचित होते हैं तो इन विचारों को लागू करने की अनुमति दी जाए।

वाल्मीकि रामायण में ग्राम पदाधिकारी ग्रामिणी का उल्लेख है जो राजकीय कर एकत्रित करने, ग्राम अभिलेख रखने, झगड़ों का निपटारा करने तथा अपराधों को नियंत्रित करने के लिए उत्तरदायी था। लेकिन ग्रामिणी पर नियंत्रण ग्राम अथवा वृद्ध जनों की परिषद रखती थी। ग्रामिणी निर्वाचित किया जाता था या नियुक्त, इस सम्बन्ध में विवाद है।³

उत्तर महाभारत काल में ग्रामिणी राजा द्वारा मनोनीत किया जाता था। ग्रामिणीयों की बहाली राज्य द्वारा होने का यह कतई मतलब नहीं था कि वे निरंकुश शासक या पदाधिकारी थे, बल्कि उनके ऊपर ग्राम द्वारा चुने गये ग्राम वृद्धों के परामर्श से ही उन्हें काम करना पड़ता था। परन्तु उसके द्वारा किये गये किसी अनुचित कृत्य को सुधारने तथा परामर्श देने का अधिकार ग्राम वृद्धों को था। यद्यपि ग्राम के वृद्ध जनों के चुनाव के तरीकों का विवरण पूर्ण रूप से उपलब्ध नहीं है, किन्तु यह मानना पड़ेगा कि ग्राम के वृद्ध जनों की सभा का स्वरूप आज के पंचायतों की कार्यपालिकाओं जैसा ही रहा होगा।⁴ सभा के सदस्यों को 'समैया' जो अति आदर सूचक शब्द था और जिससे सभ्यता शब्द की व्युत्पत्ति हुई, कहा जाता था।⁵ जातक कथाओं में भी इसकी पुष्टि की गई है। सभा, समिति या गण, जो सभा और समिति के ही समकक्ष व्यवस्त होता था- को काफी व्यापक अधिकार प्राप्त थे। ग्रामिणी वास्तव में राजा क्रीत था अर्थात् राजा को बनाने वाला। अत्रेय ब्राह्मण में इसका प्रसंग आता है कि राजा किस प्रकार चुना जाता था।⁶

दक्षिण भारत में स्थानीय स्वशासन का अध्ययन करने पर स्पष्ट हो जाता है कि स्थानीय समस्याओं को सुलझाने के लिए बाग निरीक्षण, तालाब निरीक्षण, न्याय निरीक्षण तथा स्वर्ण निरीक्षण समितियों का गठन किया जाता था।

ईसा पूर्व 600 से 600 ई. के मध्य ग्रामीण स्थानीय शासन

इस काल में जैन धर्म, बौद्ध धर्म, मौर्य साम्राज्य, गुप्त साम्राज्य आदि के उत्थान और पतन जैसी महत्वपूर्ण घटनायें हुईं।¹³ जातक कथाओं से प्रमाणित होता है कि कई ग्रामों द्वारा एकजुट होकर सार्वजनिक जलाशयों सड़कों आदि का निर्माण किया जाता था। ग्रामीण अपनी सार्वजनिक आवश्यकताओं के लिए सामूहिक रूप से श्रमदान करते थे। बुद्ध तथा महावीर द्वारा स्थापित धर्म संघों के अन्तर्गत महत्वपूर्ण निर्णयों हेतु अत्यन्त प्रजातांत्रिक पद्धति का प्रयोग किया जाता था। इसी प्रकार श्रेणियाँ तथा जातीय संगठन भी अपने आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वायत्तता का उपयोग करते थे।¹⁴ महाजनपदों की शासन प्रणालियों का संगठन स्वावलम्बी ग्राम व्यवस्था के ही आधार पर निर्मित था। आचार्य कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में एक आदर्श ग्राम संगठन का वर्णन किया है। उन्होंने ग्राम प्रशासनिक पदाधिकारियों में जिन कर्मचारियों और पदाधिकारियों का उल्लेख किया है उनमें प्रमुख है।⁸

1 अध्यक्ष - ग्राम प्रधान, 2 सास्थक - लेखापाल, 3 स्थानीक - विभिन्न स्तरों के ग्राम पदाधिकारी, 4 अनीकास्था - पशु चिकित्सक, 5 जामधा कारिका - ग्राम डाकिया, 6 चिकित्सक - ग्राम स्वास्थ्य पदाधिकारी, 7 अश्वधावक - घोड़ों को प्रशिक्षित करने वाला,

चीनी यात्री फाह्यान ने भी प्राचीन ग्राम-संगठन की प्रशंसा की है, तथा लिखा है कि ग्रामों का संगठन आर्थिक और रक्षात्मक स्वावलम्बन के विचारों पर आधारित हैं। यह ग्राम राज्य का ही प्रत्यक्ष फल है। वे लोग स्वेच्छा से बन्धुता के नियमों का पालन करते हैं तथा बड़े शान्तिप्रिय और उन्नतिशील हैं।⁹

सम्राट चन्द्रगुप्त ने विस्तृत साम्राज्य की स्थापना करते हुए भी गाँवों की स्वायत्तता को अक्षुण्ण रखा। प्रत्येक ग्राम की एक सभा होती थी, जो गाँवों से सम्बन्धित नियमों, प्रशासनिक प्रावधानों आदि का निरूपण करती थी। सभा की बैठक गाँव में स्थित किसी घने पेड़ की छाया में निर्मित चबुतरे पर होती थी। यह सभी के लिए खुली अदालत के समान थी।

दक्षिण भारत की ग्राम संस्थाएँ-चोल राजवंश

चोल शासकों के काल 900 ई. से 1300 ई. के कतिपय दस्तावेज बताते हैं कि तमिल ग्रामों का प्रशासनिक प्रबन्ध किस प्रकार का था।

ब्राह्मणों की आबादी वाले ग्राम को 'अग्रहार' तथा यहाँ की समिति को 'सभा' कहते थे तथा अन्य ग्रामों की सभाओं को 'युरार' कहते थे। सभी व्यस्क महिला और पुरुष इनके सदस्य होते थे

इनकी बैठकों की सूचना ढोल बजाकर दी जाती थी। एक ग्राम पालिका का निर्वाचन किया जाता था, जिसे "अलुन्नानम" कहा जाता था। इन ग्राम सभाओं की विभिन्न समितियाँ होती थी। ग्राम प्रशासन इकाइयाँ ग्राम उत्थान के बहुमुखी क्रियाकलापों का निष्पादन करती थी। जैसे तालाबों, पोखरों, मंदिरों, सड़कों स्कूलों आदि सार्वजनिक उपयोग की वस्तुओं की देखभाल, रख-रखाव करना, वे कर लगाती थी। तथा सार्वजनिक हित में बेगार करा सकती थीं। कानूनों, नियमों, परम्पराओं को अक्षुण्ण बनाये रखना इनकी जिम्मेदारी थी। तथा जो लोग ग्राम समुदाय के हित के खिलाफ कार्य करते थे। उन्हें ग्राम-कंटक घोषित करके उनकी सम्पतियाँ जप्त कर लेती थीं।¹⁰

मध्यकाल में ग्रामीण स्थानीय स्वशासन

मुस्लिम शासक अपने साथ कई धारणायें लाये जो कि इस देश के लिए नई थीं। नये शासकों की प्रथायें, रीति-रिवाज तथा धारणायें भिन्न थीं। भू-प्रबन्ध तथा कराधान आदि के सम्बन्ध में स्पष्ट भिन्नता थीं। भारत जो कि एक विविधताओं वाला देश था, इस अनुभव से भी समृद्ध हुआ।

मुगल काल में ग्राम स्तर पर गाँव का प्रधान होता था जो 'मुकद्दम' कहलाता था और एक ग्राम पटवारी होता था। ये पदाधिकारी राज्य द्वारा नियुक्त नहीं किये जाते थे। अपितु इनका चलन ग्राम निकाय की इच्छा पर होता था, तथा ग्राम निकाय की इच्छा रहने तक ही ये कार्य कर सकते थे।¹¹

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुगल शासकों ने भी स्थानीय प्रशासनिक व्यवस्था में कोई परिवर्तन नहीं किया। बल्कि उन्होंने इसका उपयोग अपने शासन को मजबूत बनाने के लिए किया। इतिहासकार वैवेल लिखते हैं कि मुस्लिम सुल्तानों ने भारत की परम्परागत ग्राम संस्थाओं का उपयोग ही उचित समझा। किन्तु यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि अपने साम्राज्य को सुदृढ़ करके मुस्लिम शासकों ने जागीरदारी प्रथा शुरू की जिसके अन्तर्गत राजस्व वसूली जागीरदार करता था। यहीं से पंचायती व्यवस्था की प्रतिष्ठा और स्वायत्तता में प्राचीन भारत की तुलना में कमी आई, किन्तु उन्हें नष्ट नहीं किया गया।

मराठा काल में पंचायतीराज व्यवस्था

मराठा राज्य के प्रमाणों, तथ्यों, आंकड़ों और सूचनाओं से प्रमाणित होता है। कि मराठा काल में भी भारतीय स्वशासी निकाय थे। किसी भी दृष्टिकोण से देखने पर दक्कन के राज्यों की सबसे बड़ी विशेषता थी, उनके प्रशासन का ग्राम प्रशासन और शहरी प्रशासन के बीच स्पष्ट विभाजन ग्राम छोटे रूप में राज्य की सारी

विशेषताओं को अपने में समाहित किये हुए थे तथा ऐसी स्थिति में चल रहे थे कि उसमें हर स्तर की प्रशासकीय इकाइयाँ थीं। राज्य यदि उनसे मुहँ मोड़ ले तब भी वे अपने नागरिकों की सम्पूर्ण सुरक्षा कर सकते थे।

ग्राम प्रशासन का प्रमुख पाटिल तथा उसका सहायक कुलकर्णी कहलाता था। ग्राम न सिर्फ प्रशासनिक अपितु औद्योगिक दृष्टि से भी स्वावलम्बी थे जिसके लिए बारह (12) बलुत होते थे। इस प्रकार उस समय का ग्राम केवल एक ठोस आर्थिक इकाई ही नहीं था बल्कि वह एक प्रशासनिक इकाई भी था, जिसमें इसके कार्यकर्ताओं को पूर्ण सम्मान मिलता था। ये सभी कार्यकर्ता राज्य सरकार के सेवक न होकर ग्रामीण समुदाय के सेवक होते थे। एक ग्राम की आत्मनिर्भरता तथा ग्राम के अन्दर विभिन्न समूहों की अन्योन्याश्रितता ओर दूसरा पार्थक्य जिसमें प्रत्येक ग्राम स्थित था। ये दो कारक जनता के आपसी सहयोग के थे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन काल में राजनीतिक सम्पर्कों के माध्यम से ग्राम के हितों का सर्वोच्च स्तर पर प्रतिनिधित्व किया जाता था, लेकिन वे सम्पर्क आगे चलकर कस्बों तथा शहरों के बढ़ते हुए प्रभुत्व, साम्राज्यीय विचारों के विकास तथा अधिकारी तंत्र के प्रयोग के फलस्वरूप टूटे हुए प्रतीत होते हैं। फिर भी प्राचीन काल में जिस प्रकार की ग्रामीण स्वशासन की व्यवस्था विकसित हुई थी वह गुप्तकाल तक यथावत रही। यद्यपि इसमें अधिकांश पदों के नामों के संबंध में कतिपय मामूली परिवर्तन किये गये थे।

ब्रिटिश शासनकाल में पंचायतीराज व्यवस्था का स्वरूप

पंचायतीराज व्यवस्था के आधुनिक काल खण्ड का प्रारम्भ भी ब्रिटिश शासन की भारत में स्थापना से होता है। ब्रिटिश शासन काल में पंचायतों की संगठनात्मक कार्यप्रणाली में गिरावट आई ग्रामीण समुदायों का पार्थक्य पूर्ण रूप से समाप्त हो गया तथा युगों से चली आ रही इनकी आत्मनिर्भरता भी समाप्त हो गई क्योंकि अंग्रेजों ने भारतीय प्रजातांत्रिक संस्थाओं को हीन दृष्टि से देखा उन्होंने भारतीयों को प्रजातांत्रिक संस्थाएँ चलाने के अयोग्य माना। इसलिए वे आरम्भ में भारतीयों को कोई शक्ति एवं उत्तरदायित्व देने के पक्ष में नहीं थे।

अंग्रेजों ने भारत की प्राचीन सुदृढ़ शासन प्रणाली को तहस-नहस करने में सर्वप्रथम पंचायत व्यवस्था को चुना परन्तु यह सुदृढ़ शासन प्रणाली नष्ट नहीं हुई अपितु उसका स्वरूप जातीय या बिरादरी पंचायतों ने ले लिया। यद्यपि बाद में उन्होंने पंचायत व्यवस्था के महत्व को पहचाना किन्तु पंचायत ब्रितानी शासकों का मुख्य लक्ष्य नहीं था। औपनिवेशिक शासकों का मुख्य ध्येय साम्राज्यवादी हितों का संरक्षण था।¹² इसी ध्येय से स्थानीय प्रशासनिक संस्थाओं की

स्थापना की गई और यहीं से पंचायतों का नया रूप उभरकर आया जिसे पंचायतों का पुनर्उत्थान और आधुनिक पंचायती व्यवस्था का आरम्भ भी कह सकते हैं। ब्रिटिश काल में पंचायती व्यवस्था के काल को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

1. प्रथम अवधि (1687 से 1881)

भारत में पहली बार 1687 ई. में मद्रास में कॉरपोरेशन गठित करने का निर्णय हुआ। इस सम्बन्ध में ईस्ट इंडिया कम्पनी के निदेशक ने लिखा था कि लोग कम्पनी द्वारा लगाए गए कर के रूप में एक पैस भी देना पसन्द नहीं करेंगे, लेकिन स्वेच्छा से 5 शिलिंग भी देंगे, बशर्ते इसे उन्हीं के द्वारा उन्हीं के लिए खर्च किया जाए। इसके सदस्य मनोनीत होते थे और इसका मुख्य कार्य सफाई का प्रबन्ध करना था। यह 1688 ई. में अस्तित्व में आई, लेकिन स्वायत्त शासन की संस्था नहीं बन सकी, क्योंकि जनता ने कर लगाने का विरोध किया। 1773 ई. में रेग्युलेंटिंग ऐक्ट के अनुसार स्थानीय पदाधिकारियों तथा संस्थाओं को यह अधिकार दिया गया कि वे अपने अधीन हिस्सों से कर वसूल कर सकते हैं। 1793 के चार्टर ऐक्ट के अनुसार गवर्नर जनरल को यह अधिकार दिया गया कि वह कलकत्ता, मुम्बई और मद्रास में शान्ति-जज की स्थापना करें। इनका काम नगर की सफाई, सड़कों की रक्षा तथा इसी तरह के स्थानीय कार्यों की देखरेख करना था।

1863 ई. में रॉयल आर्मी सैनिकी कमीशन के प्रतिवेदन की सिफारिशों के आधार पर 1864 ई. में बंगाल में, 1865 ई. में मद्रास में, 1867 ई. में पंजाब में तथा 1868 ई. में उत्तर-पश्चिमी प्रान्त में नगरपालिका सम्बन्धी अधिनियम पारित किये गये। 1870 ई. में लार्ड मेयो ने स्थानीय शासन के विकेन्द्रीकरण की योजना पेश करते हुए स्थानीय शासन की पूर्ण स्वतन्त्रता पर बल दिया तथा सभी प्रान्तों की नगरपालिकाओं की शक्तियों में वृद्धि की 1873 ई. में लार्ड मेयो ने ही मनोनयन पद्धति के स्थान पर निर्वाचन पद्धति की नींव डाली। किन्तु इस अवधि में जो भी प्रयास हुए वे सभी शहरी क्षेत्रों के स्थानीय शासन के सम्बन्ध में ही थे ग्रामीण शासन के सम्बन्ध में नहीं।

ग्रामीण स्थानीय स्वशासन के सम्बन्ध में पहली बार 1802 ई. में प्रयास शुरू हुए जब डिसेन्ट्रलाइजेशन कमीशन की रिपोर्ट का आगमन हुआ।¹³ किन्तु अंग्रेजों के ये प्रयास ईमानदारी पूर्ण नहीं थे। क्योंकि यदि वे ग्रामीण स्वायत्त शासन की पुनर्स्थापना करते तो गाँवों को वो सभी अधिकार देने पड़ते जिनके बल पर वे विकसित होकर ग्रामीण व्यवस्था को दिशा प्रदान कर सकें। इसके विपरीत उनका उद्देश्य ईस्ट इंडिया कम्पनी की व्यापारिक पूँजी के हितों की गाँव स्तर पर रक्षा करना था। इस कारण 1802 ई. का प्रयास सफल ना हो सका और 1827 ई. में उसे समाप्त कर दिया। ग्रामीण

हितों और कम्पनी के हितों के बीच का अन्तर्विरोध अनाशवान था। जिसने इसे समाप्त कर दिया।

1802 ई. के बाम्बे प्रेसिडेन्सी रेग्युलेशन को 1816 ई. में कई प्रेसिडेन्सियों में स्वीकारा गया। किन्तु कम्पनी शासन ने पंचायतों के मूल स्वरूप में ही फेरबदल करना प्रारम्भ कर दिया। ग्राम प्रधान के पद को पूर्णतः सरकारी बना दिया गया। इस प्रकार इस काल में ग्रामीण स्वायत्त शासन या पंचायती व्यवस्था के लिए प्रयास नगण्य ही रहे। ग्रामीण जन सरकार से पूर्णतया: अलग हो चुके थे।¹⁴

2. द्वितीय अवधि (1882 ई. से 1918 ई. तक)

18 मई 1882 ई. को लार्ड रिपिन ने “स्थानीय स्वशासन अधिनियम” की घोषणा की जो भारत के तत्कालीन गवर्नर-जनरल थे, इनसे पहले मेकेन्जी, मेकाले, मेहन्स जैसे ब्रिटिश पदाधिकारियों ने स्थानीय स्तर पर स्वायत्त शासन की सिफारिश की। 1880 ई. के अकाल आयोग ने अपनी रिपोर्ट में परामर्श दिया कि ग्राम स्वशासी संस्थाओं को अकाल सहायता कार्य में लगाया जाना चाहिए। इस उद्घोषणा में मात्र, ग्राम प्रधान, लेखपाल तथा रक्षपाल को ही संचालित किया गया, जो कि पूर्णतया सरकारी मुलाजिम की तरह थे।

लार्ड रिपिन के स्वायत्तशासन प्रस्ताव में सर्वप्रथम समस्त देश के लिए स्वायत्त शासन की रूपरेखा तैयार की गयी तथा प्रान्तीय सरकारों को यह आदेश दिया गया कि वे अपने-अपने क्षेत्रों में निश्चित उत्तरदायित्व वाले लोक बोर्डों की स्थापना करें तथा उनकी सदस्यता के लिए निर्वाचित सदस्यों की परम्परा स्थापित करें। इस प्रस्ताव में तालुका या तहसील को इकाई बनाया गया था। लेकिन ग्रामीण स्तर पर पंचायतों के गठन का जिक्र नहीं किया गया था।¹⁵ फिर भी, लार्ड रिपिन का यह प्रयास ब्रिटिश काल में स्वायत्त शासन के संबंध में प्रथम प्रयास कहा जाता है। प्रो. एम. वेंकट रमैया ने इस सम्बन्ध में लिखा है कि यह प्रस्ताव युगान्तकारी था तथा भारतीय स्वायत्त शासन के विकास के लिए आधारशिला प्रमाणित हुआ। उन प्रान्तीय सरकारों के लिए जो सही अर्थ में स्वायत्त शासन का विकास चाहती थीं, मार्ग प्रदर्शक था।¹⁶

1896-97 ई. में भी स्वायत्त शासन संबंधी अधिनियम बने लेकिन इन अधिनियमों में गाँवों को पूर्णतः उपेक्षित रखा गया। इस प्रकार 1901 से 1910 ई. के मध्य भारत सचिव विस्काउंड मोडी ने आगे बढ़ते हुए कहा था कि केन्द्रीकरण से सरकार और लोगों के बीच खाँई बढ़ गई है। पंचायती राज की स्थापना के मूल में अंग्रेजों का लक्ष्य कुछ भी रहा हो पर वे इसे शासन का सुदृढ़ संगठन अवश्य मानते थे, इसीलिए 1907-8 ई. में ब्रिटिश सरकार द्वारा विकेन्द्रीकरण के लिए रॉयल समिति का गठन किया।¹⁷ जिसके सुझाव निम्नलिखित थे—

1. पंचायतों को छोटे स्तर के सिविल तथा फौजदारी मुद्दों को स्वयं हल करना चाहिए।
2. चयनित पंचायतों को ईंधन एवं लकड़ी के संसाधनों पर अपना नियन्त्रण रखना चाहिए।
3. ग्राम पंचायत को सफाई व्यवस्था, निर्माण व्यवस्था, शिक्षा व्यवस्था का भार सौंप देना चाहिए।

किन्तु अन्त में आयोग के सुझावों को व्यवहारिक रूप नहीं दिया गया और पंचायतों से संबंधित कानून तथा नियम बनाने का कार्य प्रान्तीय सरकारों पर छोड़ दिया।

इस प्रकार इस द्वितीय अवधि में हम कह सकते हैं कि स्वायत्त शासन के विकास के क्रम में एकमात्र वर्तमान शासन की रूपरेखा तैयार की गयी तथा जनता को स्वायत्त शासन के विचार से अवगत करवाया गया।

3. तृतीय अवधि (1919 ई. से 14 अगस्त 1947 ई. तक)

एक तरफ काँग्रेस की माँगों तथा 1917 ई. की माँण्टेग्यू द्वारा की गई ऐतिहासिक घोषणा तथा माँण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट में सर्वप्रथम इस बात को स्वीकार किया गया कि उत्तरदायी शासन का प्रारम्भ स्थानीय क्षेत्रों से होना चाहिए। इसलिए 1918 ई. में भारत सरकार ने बहुत हद तक विकेन्द्रीकरण आयोग के सुझावों के आधार पर एक प्रस्ताव पास किया जिसमें निम्नलिखित बिन्दुओं को रखा गया।

1. स्थानीय संस्थाओं में निर्वाचित सदस्यों का बहुमत होना चाहिए और उनमें कम से कम तीन-चौथाई सदस्य निर्वाचित हो।
2. केवल गैर-सरकारी व्यक्ति ही स्थानीय संस्थाओं के अध्यक्ष हों। सिर्फ उसी दश में सरकारी सदस्य अध्यक्ष हों जब वे बोर्ड द्वारा बहुमत से चुने जायें।
3. इस प्रस्ताव द्वारा प्रत्येक स्थानीय क्षेत्र को व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित सीमा के अन्दर कर लगाने का व्यापक अधिकार तथा स्वतंत्र रूप से अपना बजट बनाने का भी अधिकार दिया गया।
4. प्रस्ताव में यह भी कहा गया था कि स्थानीय क्षेत्रों पर बाहरी प्रशासकीय नियंत्रण कम से कम हो तथा प्रान्तीय सरकार को अधिकार रहे कि वह आवश्यकता पड़ने पर स्थानीय बोर्डों के प्रस्ताव को रद्द करें, और उन्हें भंग भी कर सकें।
5. प्रस्ताव में यह भी कहा गया कि खास-खास गाँवों में ग्राम पंचायतों की स्थापना की जाये।

विभिन्न क्षेत्रों में भारतीयों द्वारा स्थानीय स्वायत्त शासन की मांग करने तथा राष्ट्रीय काँग्रेस द्वारा इसे एक मांग के रूप में सरकार के समक्ष पेश करने के उपरान्त प्रथम विश्व युद्ध के बाद जारी

माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड सुधार में इस प्रश्न को लिया गया जिसके फलस्वरूप 1925 ई. तक आठ प्रान्तों में पंचायत अधिनियम पारित किये गये।¹⁸

1. बंगाल स्वायत्त शासन अधिनियम 6, 1919; 2. बिहार स्वायत्त शासन अधिनियम 5, 1920; 3. बम्बई ग्राम पंचायत अधिनियम 9, 1920; 4. केन्द्रीय प्रान्तीय व बिहार पंचायत अधिनियम 5, 1920; 5. मद्रास पंचायत अधिनियम 15, 1920; 6. उत्तर प्रदेश ग्राम पंचायत अधिनियम 3, 1922; 7. पंजाब पंचायत अधिनियम 3, 1922; 8. असम स्वायत्त शासन अधिनियम 1925

कुछ देशी रियासतों में भी पंचायत अधिनियम पारित किए गये। किन्तु द्वैध शासन के अन्तर्गत स्थानीय संस्थाओं की प्रगति नहीं हो सकी। इनकी प्रगति में बाधक बने रहे आर्थिक अभाव, अनुचित हस्तक्षेप, कार्यों की वृद्धि, साम्प्रदायिकता आदि। स्थानीय संस्थाओं में भी जातिवाद का विकास हुआ। इस प्रकार वातावरण दूषित हो गया। और स्थानीय संस्थाओं का सफलतापूर्वक कार्यान्वयन न हो सका।

इस प्रकार 1919 से 1939 ई. तक स्थानीय स्वायत्त शासन में काफी सुधार लाया गया और इनकी स्थापना की गयी। लेकिन 1939 ई. से 1946 ई. तक भारत में हर स्तर पर गर्वनर का ही शासन चला और जनता की भागीदारी के स्थान पर नौकरशाही का बोलबाला रहा। इस प्रकार इस अवधि में ब्रिटिश सरकार ने पंचायतों को पूरी तरह नजर अंदाज कर दिया।

पंचायतों के न्यायिक अधिकारों की माँग

काँग्रेस के विशेष महाधिवेशन ने जो 1920 ई. में 4 से 9 सितम्बर तक कलकत्ता में लाला लाजपतराय की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ तथा जिसमें गाँधीजी के असहयोग आन्दोलन का प्रस्ताव पारित किया गया, ब्रिटिश अदालतों के बहिष्कार का नारा दिया तथा मामलों के निपटारे के लिए पंचायती अदालतों को स्थापित कर उनके माध्यम से व्यक्तिगत केशों के फैसले करने का नारा दिया।¹⁹ इसके पश्चात् गाँधीजी ने लगातार ग्राम पंचायतों की महत्ता तथा उस समय की अदालती कचहरियों के कुप्रबन्ध, कुव्यवस्था तथा हानिकारक प्रभावों के खिलाफ तथा ग्राम पंचायतों द्वारा मामलों की सुनवाई फैसलें आदि की खूबियों को प्रचारित करना शुरू किया। डॉ. राजेन्द्र प्रसाद ने अपने लेखों में लिखा कि कोर्ट से न्याय पाना दुष्कर और अति खर्चीला है और ग्राम पंचायतों द्वारा निर्णय या पंचायत करके झगड़ों का निपटारा सच्चाई पर आधारित फैसला होगा। मोतीलाल नेहरू के एक वाक्यांश अदालत में जो जीता सो हारा, जो हारा सो मरा²⁰ को प्रचारित करते हुए ब्रिटिश न्याय प्रणाली की खामियों को दर्शाया।

काँग्रेस के रचनात्मक कार्यक्रम में पंचायतीराज व्यवस्था

काँग्रेस द्वारा पंचायतों के सम्बन्ध में जो प्रयास किये गए उनमें उसे असफलता ही मिली। इसकी स्वीकारोक्ति गाँधीजी ने की उन्होंने कहा कि पंचायतों के गठन का प्रयास काँग्रेस ने सर्वप्रथम 1921 ई. में किया। मगर असफल रही। पुनः इसका प्रयास किया जा रहा है, जो असफल होगा। गाँधीजी की ऐसी भविष्यवाणी के पीछे उनकी एक समझ थी, जो उन्हें काँग्रेस के उन नेताओं से भिन्न स्थान पर खड़ा करती थी, जो प्राचीन भारतीय ग्राम समुदाय के ही आधार पर उस वक्त भी जब भारत का प्रशासन औद्योगिक पुंजी के तहत हो रहा था। पंचायतों का गठन करना चाहते थे। उनका दृष्टिकोण पंचायतों के प्रति वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाने का था।

ब्रिटिश शासन काल में अंग्रेजों ने प्रशासन की व्यवस्था में परिवर्तन पर सत्ता का केन्द्रीकरण किया ऐसी स्थिति में स्थानीय स्वशासन सफल नहीं हो सकता था। क्योंकि ये दोनों परिकल्पनाएँ परस्पर विरोधात्मक हैं। यही केन्द्रीकरण प्राचीन पंचायती राज के पतन एवं विलोप के लिए जिम्मेदार है। यद्यपि उस समय राजनीतिक उथल-पुथल से भरे स्वतंत्रता आन्दोलन के दौर में हमारा राष्ट्रीय नेतृत्व भी स्वशासन के विषय पर विशेष ध्यान नहीं दे पाया किन्तु गाँधीजी लगातार पंचायती व्यवस्था पर विचार करते रहे। उनकी परिकल्पना पंचायतों को स्थानीय स्वशासन की आत्मनिर्भर इकाइयाँ बनाने के पक्ष में थी, किन्तु अन्य काँग्रेसी नेतृत्व में यह सोच नहीं थी जिसके चलते राष्ट्रीय नेतृत्व ब्रिटिश प्रशासकों पर पंचायती व्यवस्था के क्रियान्वयन के लिए प्रभावशाली ढंग से कभी जोर नहीं डाल सका।

निष्कर्ष

इस प्रकार ब्रिटिश शासन काल में पंचायतें सशक्त नहीं बन सकी। यदि कहीं पंचायतें गठित भी हुईं तो उनमें नौकरशाही का बोलबाला रहा। अंग्रेजी शासन काल में शासकों ने भी इस बात को माना था कि जब तक पंचायतों की आर्थिक दशा संतोषजनक नहीं होगी। तब तक वे कोई कार्य करने में समर्थ नहीं होंगी यह तथ्य जितना ब्रिटिश शासन काल में लागू था आज भी उतना ही प्रासंगिक है। किन्तु ब्रिटिश शासकों की सिफारिशें कागजों पर ही रहीं, क्योंकि उनमें से बहुत कम को वास्तविक रूप से अमल में लाया गया। पंचायतों की दशा पहले जैसी ही बनी रही। और समुचित धन तथा अधिकारों के अभाव में पंचायतें न तो मुकदमें बाजी को कम कर सकीं न किसानों के काम का बोझ हलका कर सकी, न उन्हें स्वशासन की शिक्षा दे सकी और न देश के देहातों की हालत में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन ही ला सकी।

संदर्भ सूची

1. चौधरी, डॉ. विश्वमित्र प्रसाद, भारत में पंचायतीराज का उद्भव एवं विकास, पुष्पांजली प्रकाशन दिल्ली, 2009, पृ.सं. 1

2. भट्टचार्या, डॉ. विवेक रंजन, नया बीस सूत्री कार्यक्रम : ग्रामीण भारत का बदलता स्वरूप, भारती प्रकाशन, 1983 नई दिल्ली, पृ.सं. 330
3. विकास प्रशासन : विकेन्द्रीकरण एवं विकास, खंड 5, प्रकाशक, इंदिरा गांधी, राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नई दिल्ली- जनवरी, 1992, पृ.सं. 16
4. चौधरी, डॉ. विश्वमित्र प्रसाद, भारत में पंचायतीराज का उद्भव एवं विकास, पूर्वोक्त, पृ.सं. 6
5. जोशी, हेमचन्द्र, हमारा सनातन गाँव-पंचायत राज आर्थिक समीक्षा विशेष भूमि सुधार अंक, जयपुर 1 सं. 18, पृ.सं. 43
6. मजुमदार और पुशालकर, हिस्ट्री एंड दि कल्चर ऑफ दि इंडियन पीपुल भो. 1, पृ.सं. 426 अथर्ववेद 111 4, 6, 87-88
7. विकास प्रशासन : विकेन्द्रीकरण एवं विकास खंड 5, प्रकाशक इंदिरा गांधी, पूर्वोक्त, पृ.सं. 16
8. मालवीय, एच.डी., विलेज पंचायत इन इंडिया इकोनोमिक एंड पौलिटिकल रिसर्च डिपार्टमेंट ऑफ इंडिया काँग्रेस कमिटी नई दिल्ली, 1956
9. प्रसाद, डॉ. चन्द्रदेव, भारतीय स्थानीय स्वशासन, भारती भवन, पटना, प्रथम संस्करण, 1980, पृ.सं. 10
10. मुखर्जी, राधा कुमुद, हिन्दू सिविलाईजेशन, मुम्बई, 1950, पृ.सं. 299-301
11. मजुमदार, एन एडवांस हिस्ट्री ऑफ इंडिया लंदन, (राय चौधरी एण्ड दत्त, मैकमिलन, 1946), पृ.सं. 556-57, , पृ.सं. 21
12. जोशी, प्रो. आर. पी. एवं मंगलानी, रूपा, भारत में पंचायती राज, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, 2004, पृ.सं. 9-10
13. मथाई, जॉन, विलेज गवर्नमेंट इन ब्रिटिश इण्डिया (वीथ प्रोफेस वाई सिडनी वेथ), लंदन, 1995, पृ.सं. 162-198
14. थिंकर, हुग, द फाउण्डेशन ऑफ लोकल सेल्फ गवर्नमेंट इन इण्डिया, पाकिस्तान, वर्मा, दी एलथोन प्रेस, लन्दन, 1954, पृ.सं. 55
15. प्रो. एम. वैकट रंगैया की उक्ति, डॉ. चन्द्रदेव प्रसाद द्वारा उद्धृत, : भारतीय स्थानीय स्वशासन, भारती भवन, पटना, प्रथम संस्करण, 1980, पृ.सं. 13
16. लोकल सेल्फ गवर्नमेंट एक्ट, 1885, 1886
17. गर्ग एण्ड जिन्दल, रूरल डवलपमेंट-ए क्रिटिकल अप्प्रेजल, पृ.सं. 23
18. कुरुक्षेत्र, ग्रामीण क्षेत्र एवं रोजगार मंत्रालय, भारत सरकार की मासिक पत्रिका, 1991, पृ.सं. 23
19. काँग्रेस के विशेष अधिवेशन, 4-9 सितम्बर 1920, कलकत्ता में पारित असहयोग आन्दोलन पर प्रस्ताव
20. मोतीलाल नेहरू द्वारा प्रकाशित पत्र, इंडिपेन्डन्ट से गांधी द्वारा यंग इण्डिया में उद्धृत, यंग इण्डिया, 13 अक्टूबर, 1920